लोकतंत्र, शिक्षा एवं विवेकशीलता

❑ तोपियो पॉलिमत्का

अनुवाद : देवयानी

लोकतंत्र राज्य सत्ता की सबसे प्रगतिशील प्रणाली मानी जाती है । लेकिन लोकतंत्र के चिंतन की शुरुआत से ही यह कहा जाता रहा है कि सचेत और विवेकशील नागरिकों के बिना इस प्रणाली के सुफल नहीं मिल सकते । ऐसी स्थिति में शिक्षा लोकतांत्रिक प्रणाली की पूर्व शर्त है जो सजग और विवेक संपन्न नागरिक तैयार करने की महती भूमिका निभाती है । लोकतंत्र में शिक्षा को प्रदत्त यह विशिष्ट कार्य भार उसकी मूल प्रकृति को उभारता और विकसित करता है । तब ज्ञानोत्कर्ष के लिए विमर्श की तर्क–पद्धति, सत्य–संधान, नैतिकता और मूल्य ठोस वस्तुनिष्ठ आधार ग्रहण कर लेते हैं । तोपियो पॉलिमत्का का यह लेख अंग्रेजी से अनूदित है, वे फिनलैंड़ के हेलिंस्की विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं ।

इस लेख में मैं इस के पक्ष में तर्क देने की कोशिश करूंगा कि विवेकशील नागरिक लोकतंत्र की अवधारणा के लिए अपरिहार्य है। चूंकि ऐसे नागरिक शिक्षा के बिना स्वत: तैयार नहीं हो सकते, इसलिए शिक्षा लोकतंत्र की पूर्व शर्त है। ''लोकतंत्र'',''शिक्षा'' तथा ''विवेकशील नागरिक'' यह तीनों ही अवधारणाएं वर्णनात्मक नहीं बल्कि मानकीय अवधारणाएं हैं। वस्तुनिष्ठ मानदण्डों के सैद्धांतिक ढांचे के बिना इन अवधारणाओं और उनके विकृत रूपों में कोई तर्कसंगत फर्क करना संभव नहीं है। इस तरह यह अवधारणाएं मूल्यों तथा नैतिक यथार्थवाद के विषयनिष्ठवादी आधार के बिना ठीक-ठीक नहीं समझी जा सकतीं।

विवेकशील नागरिक लोकतंत्र की पूर्व शर्त

इस लेख का आधार लोकतांत्रिक सिद्धांत की वह मान्य परंपरा है जो यह मानती है कि लोकतंत्र तथा शिक्षा के बीच एक तात्त्विक संबंध होता है। लोकतांत्रिक सरकार को जन आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशील माना जाता है । लेकिन स्पष्ट ही इस बात का बहुत फर्क पड़ेगा कि ये आकांक्षायें विवेकसंगत और विज्ञ हैं या विवेकहीन और अज्ञ । निर्वाचकों या सरकार में से किसी का भी अज्ञान और विवेकहीनता लोकतांत्रिक प्रक्रिया का भला नहीं करते। कार्लसनीज सुझाते हैं कि यहां तीन अलग अलग पहलू हैं । वे हैं ''प्रबुद्ध और समालोचनात्मक चिंतन में समर्थ जनता, सुविज्ञ राजनेताओं का समूह जिसे विशेषज्ञ और पेशेवर नौकरशाह अपने हाथ की कठपुतली न बना सकें और जीवन्त सार्वजनिक बहस के लिए पर्याप्त गुंजाइश, ऐसी बहस जो किसी भी निजी या सार्वजनिक निहित–स्वार्थ से संचालित न हो रही हो ।''

इस दृष्टि से तर्क–बुद्धि सम्पन्न तथा सुविज्ञ नागरिक लोकतंत्र के लिए अपरिहार्य हैं जिनका राजनीतिक नीति–निर्धारण प्रक्रिया में दखल मात्र चुनाव तक सीमित नहीं हो, बल्कि जो राजनीतिक मुद्दों पर सार्वजनिक बहस में विवेकशील भागीदारी निभाते हों । जब तक नागरिकों को समालोचनात्मक चिंतन के लिए शिक्षा नहीं मिलती, उनमें समालोचनात्मक बहस में भागीदारी के लिए आवश्यक क्षमताओं का यथाआवश्यक विकास नहीं होगा और इसी कारण समाज को विवेकसंगत दिशा देने की क्षमताओं में भी कमी रहेगी । क्योंकि जिन मूल्यों को शिक्षा समृद्ध करती है तथा जो सामाजिक और राजनीतिक जीवन में लागू होंगे उन्हें एक समालोचनात्मक विमर्श की पृष्ठभूमि में ही स्थापित किया जा सकता है ।

बहस, आलोचना तथा सहकारितापूर्ण प्रयासों में हिस्सेदारी के माध्यम से नागरिकों को राजनीति को प्रभावित करने के अवसर प्रदान किये जाने चाहिये। बहस में जनता की भागीदारी सुनिश्चित करने का कार्य करने के साथ ही साथ नागरिकों को इसके रचनात्मक उपयोग के लिए तैयार भी किया जाना चाहिये । केवल एक प्रबुद्ध मतदाता ही अपनी राजनीतिक सामर्थ्य का उपयोग सही अर्थों में हितकारी नीतियों को प्रोत्साहित करने में कर सकता है ।

शिक्षा लोकतंत्र की पूर्वशर्त

जब तक नागरिक समुचित रूप से शिक्षित न हो, तब तक सार्वजनिक नीतियों में विवेक संगत आग्रह और समझदारीपूर्ण सहमति के आधार पर परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। शिक्षा से की जाने वाली अपेक्षाएं लोकतांत्रिक दृष्टि के लिए आवश्यक हैं। शिक्षा मात्र ऐसा उपकरण नहीं है जिसकी सहायता से शासक अपने शासितों के दिमाग बदल सकें, बल्कि इसका उद्देश्य मस्तिष्क की आलोचनात्मक सामर्थ्य को विकसित करना है ताकि नागरिक आलोचनात्मक वाद–विवाद की उस प्रक्रिया में भी सक्रिय भागीदारी निभा सकें जिस पर हमारा सामाजिक ढांचा टिका हुआ है। नीति

निर्माता सिर्फ नीतियां घोषित ही न करें, बल्कि तर्क के आधार पर उन्हें उचित भी ठहरायें तथा उनके विरुद्ध संभावित तर्कों को भी आमंत्रित करें। शिक्षा के अभाव में नागरिक सार्वजनिक नीति–निर्धारण की प्रक्रिया में हिस्सेदारी की सामर्थ्य से वंचित रह जाते हैं और इस तरह वे अपने मूलभूत लोकतांत्रिक अधिकार के प्रयोग से वंचित हो जाते हैं।

इस तरह शिक्षा लोकतंत्र में मात्र सहायक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भूमिका निभाती है। ''वही समाज लोकतांत्रिक मूल्यों को समर्पित कहा जा सकता है जो अपने सदस्यों से खासी मुश्किल तथा चुनौतीपूर्ण अपेक्षाएं रखता हो, इसी के अनुरूप यह समाज अपने सदस्यों को शिक्षित करने वाली प्रक्रिया से भी बहुत कठोर मानदण्डों के पालन की मांग करता है।'' लोकतंत्र आदर्श सामाजिक व्यवस्था के एक विशेष सिद्धांत को भी समाविष्ट करता है। एक ऐसा सिद्धांत जिसका उद्देश्य सामाजिक ढांचों को समाज के सदस्यों की स्वतंत्र सहमति के आधार पर खड़ा करना है। ''इस तरह के लक्ष्य में किसी भी नीति की सार्वजनिक तथा आलोचनात्मक समीक्षा के लिए सुविचारित कार्यप्रणाली की प्रथा को स्थापित करने की जरूरत रहती है।'' नीतियों पर निर्णय यहां किसी संभ्रांत तबके का विशेषाधिकार न हो कर सबका सांझा काम होता है। यहां सार्वजनिक नीति में मनमाने रद्दोबदल की छूट नहीं होती बल्कि यह संस्थागत तौर पर व्यवस्थित होनी चाहिये और इसे ''विवेक संगत आग्रहों तथा समझदारीपूर्ण सहमति से नियंत्रित होना चाहिये।''

शिक्षा लोकतंत्र के लिए अनिवार्य है। इसका अर्थ यह भी है कि यह गतिशील समानता की अवधारणा के लिए भी अपरिहार्य है। जिसमें निहित है कि नागरिक की लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में अपने हितों के लिए काम करने की सामर्थ्य उसे मिले शिक्षा के अवसरों पर निर्भर करती है। बाजार–लोकतंत्रवादियों की निष्क्रिय समानता के बावजूद लोकतंत्र की नैतिक अवधारणा में गतिशील समानता की यह अवधारणा अन्तर्निहित है। गतिशील समता के इस सिद्धांत में यह भी निहित है कि मानव संज्ञानात्मक एवं नैतिक विकास की सामर्थ्य रखते हैं और इन पर शिक्षा का कोई सकारात्मक प्रभाव हो सकता है। इसका निहितार्थ यह है कि ''मानव की उन्नति के लिए सामाजिक संस्थाओं में ही, विशेष रूप से राजनैतिक व्यवस्था में, प्रावधान होगा।'' एक उपयुक्त लोकतांत्रिक सिद्धांत में नागरिकों के संज्ञानात्मक विकास को अपने आप में ही एक मूल्य माना जाता है और प्रत्येक नागरिक को एक ऐसे व्यक्ति की तरह देखा जाता है जिसका शैक्षिक विकास एक बेहतर समाज की रचना में उसे सक्रिय भागीदारी की सामर्थ्य प्रदान करता है।

लोकतंत्र की समुचित अवधारणा के लिए शिक्षा तार्किक दृष्टि से अनिवार्य है। इस दावे के पक्ष में निम्नांकित तर्क–शृंखला प्रस्तुत की जा सकती है :

1. किसी भी लोकतंत्र में यह अनिवार्य शर्त होती है कि उसकी सरकार एक निश्चित समयावधि के बाद वयस्क नागरिकों के बहुमत की राय के आधार पर बदली जाती रहे। ''अपनी परवर्ती पीढ़ियों को लोकतंत्र की इस आवश्यक शर्त की पूर्ति के लिए तैयार न करना तो लोकतंत्रवादियों के अपने मूल्यों का ही उल्लंघन होगा।''
2. लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भागीदारी के अपने अधिकार के उपयोग का निर्णय एक विवेक आधारित तथा नैतिक निर्णय है। नागरिकों को यह समझने के लिए कि उसके सामने स्वतंत्र चयन की चुनौती है, और इस चयन का महत्व समझने के लिए, समुचित शिक्षा की जरूरत होगी।
3. इस निर्णय के जिम्मेदारीपूर्वक निर्वहन के लिए नागरिकों को ''नैतिक आधार पर चयन की सामर्थ्य से सम्पन्न बनाया जाना चाहिये।'' लोकतंत्र की अवधारणा में नैतिक – कर्ताओं के समाज की अवधारणा अन्तरनिहित है।
4. नैतिक–कर्ता के इस अर्थ में यह पूर्व मान्यता हो जाती है कि यह मानवीय ज्ञान के उन क्षेत्रों से परिचित हो जो ''सामाजिक मूल्यों या सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर चिंतन के लिए आवश्यक हैं।''
5. नीतियों के नैतिक महत्व एवं अच्छे समाज के बारे में चिंतन के लिए जो कुछ भी आवश्यक शर्त के रूप में माना जाता है उसे शिक्षाक्रम में स्थान दिया जाना चाहिये।
6. इतिहास, दर्शन, धर्म, कला, साहित्य, नाट्य और संगीत ''अच्छे समाज की एक तस्वीर पेश करते हैं। वर्तमान संस्थाओं पर चिंतन की प्रेरणा देते हैं ; तात्कालिक सांस्कृतिक मानदण्डों एवं पूर्वाग्रहों को चुनौती देते हैं ; और इस तरह व्यक्ति की चेतना को तात्कालिक एवं सतहीपने से ऊपर उठाते हैं।'' इसलिए इन सबको शिक्षाक्रम में शामिल किया जाना चाहिये। स्कूलों में छात्रों को राजनीति, अर्थशास्त्र तथा कानून की शिक्षा दी जानी चाहिये।
7. इन विषयों की शिक्षा हल्के–फुल्के अथवा सतही होने तक सरल तरीके से नहीं दी जानी चाहिये। इनके अध्यापन का उद्देश्य बच्चे को ''निष्क्रिय तथ्यों की अंतहीन शृंखला से परिचय करवाना नहीं होना चाहिये बल्कि वैकल्पिक मूल्य – समूहों के रूप में वैकल्पिक जीवन पद्धतियों की समझ विकसित करना होना चाहिये।''

लोकतंत्र की अवधारणा में ही विवेकशील नागरिकों की

अवधारणा अन्तर्निहित है, क्योंकि लोकतंत्र का अभिप्राय ही जनता का शासन होता है। यह तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक कि नागरिक तमाम विकल्पों के बारे में पूरी जानकारी के साथ विचार विमर्श करते हुए अपना राजनीतिक चयन नहीं करते। शिक्षा के बिना हम विवेकशील नागरिक की कल्पना भी नहीं कर सकते, क्योंकि इंसान प्रबुद्ध नागरिक के लिए वांछित योग्यताओं से संपन्न नहीं जन्मता। हालांकि उसकी कार्य–प्रणाली में समालोचना की दिशा में आगे बढ़ने की बहुत संभावना है लेकिन इस संभावना की तहों को शिक्षा की सहायता से ही खोला जा सकता है।

विवेकशील नागरिकों को शिक्षित करने के जरिये हमारा उद्देश्य आलोचनात्मक विवेक तथा नैतिक निष्ठा के मानदण्डों के अनुरूप नागरिकों के विकास को प्रोत्साहित करना है। साथ ही उन्हें सार्वजनिक नीति निर्माण की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी निभाने के लिए शिक्षित करना है ताकि वे अपनी आलोचनात्मक सक्रियता के द्वारा उन लोगों को नियंत्रित कर सकें जो सत्ता में बैठे हैं। लोकतंत्र में नागरिकों से समझदारीपूर्ण फैसलों व आलोचनात्मक संवाद की सामर्थ्य की अपेक्षा तो की ही जानी चाहिये। उन्हें लोकतंत्र के आधारभूत मूल्यों– स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय के लिए भी नैतिक रूप से प्रतिबद्ध होना चाहिए। इस तरह की प्रतिबद्धिता के अभाव में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का अलोकतांत्रिक उद्देश्यों के लिए दुरुपयोग हो सकता है। राजनीतिक उदासीनता, भ्रष्टाचार और शोषण की प्रवृत्तियों के प्रतिरोध के लिए भी नैतिक रूप से प्रतिबद्ध नागरिक अपरिहार्य हैं।

लोकतंत्र की अवधारणा में यह निहित है कि लोग अपने दावों को दूसरों द्वारा आलोचनात्मक जांच के लिए प्रस्तुत करें और दूसरों के दावों की आलोचनात्मक जांच करें। अत: प्रत्येक नागरिक का शिक्षा द्वारा इस तरह विकास होना चाहिये कि वह अच्छे समाज पर सार्वजनिक विमर्श में भागीदारी कर सके। ऐसी शिक्षा में वस्तुनिष्ठ मूल्यों की स्वीकृति निहित होगी ही क्योंकि बिना गैर मनमाने मानदण्डों के ढांचे के कोई भी विवेकशील नागरिक दिये गए कारणों की वैधता को जांच कर उन पर न्यायोचित निर्णय नहीं ले सकता।

वस्तुनिष्ठ मूल्य:शिक्षा की पूर्वमान्यता

लोकतंत्र की पूर्व शर्त के रूप में शिक्षा को वर्णनात्मक की बजाय नियामक अवधारणा के रूप में समझा जाना चाहिए, एक ऐसे उपक्रम के रूप में जो स्वीकार्य तरीकों से वांछनीय प्रवृत्तियों को स्थापित एवं समृद्ध करता है। शिक्षा के वर्णनात्मक मॉडलों में प्रवृत्तियों को समाज या शिक्षार्थी द्वारा मूल्यवान या वांछितभर माना जाता है, मात्र वांछित एवं वांछनीय में स्पष्ट भेद किये बिना ही। नियामक अवधारणा में स्वतंत्र मानकों के तहत प्रवृत्तियों का वांछनीय तथा मूल्यवान होना जरूरी होता है। इसी तरह वर्णनात्मक अवधारणा में शिक्षार्थी अथवा समाज के द्वारा जिन विधियों का संतोषजनक होना मान लिया जाता है, उन्हें ही स्वीकार कर लिया जाता है। जबकि नियामक अवधारणा में किसी भी पूर्व प्रचलित मान्यता अथवा व्यक्तिगत धारणा पर निर्भर हुए बिना विधियों को तयशुदा मानकों के तहत संतोषजनक होना ही चाहिए।

शिक्षा की वर्णनात्मक अवधारणा में आलोचनात्मक तर्क–बुद्धि खास महत्व नहीं रखती, जबकि यह विवेकशील नागरिक के लिए अनिवार्य शिक्षा की विशेषता मानी गई है। शिक्षा मानव जीवन में व्यापक हस्तक्षेप करती है, इसे तभी उचित ठहराया जा सकता है जब इसके माध्यम से कुछ मूल्यवान सिखाया जाता हो। यह बात एक ऐसे विश्व की कल्पना की मांग करती है जिसमें कुछ परिस्थितियां कुछ दूसरी परिस्थितियों से अधिक मूल्यवान हों। शिक्षा के उद्देश्यों को मात्र इन तथ्यों के आधार पर उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वे समाज या शिक्षार्थी द्वारा मूल्यवान मानी जाने वाली किसी चीज को प्रतिबिम्बित करते हैं। शिक्षा लोगों के जीवन में इतना व्यापक और बड़े पैमाने पर हस्तक्षेप करती है कि उसे किन्हीं वस्तुनिष्ठ मानदण्डों के आधार पर उचित सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा शिक्षा बुनियादी तौर पर तर्क संगति के उन मानदंडों पर खरी उतरने में नाकाम साबित हो जाती है जिन्हें शिक्षा की अवधारणा में ही अन्तरनिहित होना चाहिए। शिक्षा के उद्देश्य अन्तर्निहित रूप से ही ''कैसा जीवन जीने योग्य है'' इस बारे में किसी धारणा को समाहित करते हैं। बच्चों के विकास की दिशा ''जीवन के प्रति एक दृष्टि से, सर्वाधिक महत्वपूर्ण चीजों के लिए प्रतिबद्धता से'' तय होती है। यह सब स्वीकारने का अर्थ है कि शिक्षा के उद्देश्य अन्तर्निहित वैधता का दावा करते हैं। बिना इस दावे के शैक्षिक हस्तक्षेप को पूरी तरह उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता।

एक नियामक अवधारणा के रूप में शिक्षा वस्तुनिष्ठ मूल्यों व प्रचलित मूल्यों के बीच फर्क की पूर्व कल्पना करती है। वस्तुनिष्ठ मूल्यों का क्षेत्र किसी भी व्यक्ति विशेष अथवा समाज द्वारा स्वीकृत मान्यताओं से कहीं अधिक विस्तृत होता है और उनका विरोध भी

कर सकता है । तब कुछ समस्याएं सामने आती हैं, जैसे कि (1)यह कैसे तय होगा कि कौनसी प्रवृत्तियां वांछनीय हैं (और शिक्षार्थी या समाज द्वारा वांछित मात्र नहीं)? कल्पना करें कि सचमुच क्या वांछनीय है इस बारे में अलग–अलग लोगों की अलग अलग राय है । तब हमारे सामने दूसरा सवाल खड़ा होगा (2)कौनसी प्रवृत्तियां वांछनीय है और कौनसी विधियां संतोषजनक हैं, इसका निर्णय कौन करे ?

हालांकि नियामक परिभाषा को गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ता है, तब भी यह उतनी गंभीर नहीं हैं जितनी सापेक्षवादी मान्यताओं से उठने वाली समस्यायें । क्योंकि ये तो शिक्षा की अवधारणा पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देती हैं । शिक्षा में मूल्यवान प्रवृत्तियों एवं संतोषजनक विधियों की जांच की संभावना अंतर्निहित है । इस बात में यह पूर्वकल्पना निहित है कि वांछित का वांछनीयता के निर्पेक्ष मानदण्डों के आधार पर मूल्यांकन संभव है । शिक्षा के उद्देश्यों के रूप में प्रस्तुत प्रवृत्तियों की विवेक पर आधारित जांच संभव होनी चाहिये ।

समालोचना में समर्थ नागरिक के लिए शिक्षा का तर्क–बुद्धि आधारित संदर्भ होना अनिवार्य है, जो शैक्षिक उद्देश्यों एवं शैक्षिक विधियों के बारे में गैर–मनमानी बहस को संभव बना सके; कि किन प्रवृत्तियों का शिक्षा के माध्यम से विकास होना चाहिये, किन विधियों का शिक्षा को उपयोग करना चाहिये । शिक्षा की वर्णनात्मक परिभाषा शैक्षिक विमर्श को समाज अथवा व्यक्ति की प्रचलित मान्यताओं के संदर्भ में सीमित कर देती है, इसलिए यह समालोचना में समर्थ नागरिकों की शिक्षा के उद्देश्य के लिए अपर्याप्त है ।

शिक्षा में नैतिक यथार्थवाद की पूर्व कल्पना निहित

महत्वपूर्ण एवं संतोषजनक क्या है, इसके मूल्यांकन के वस्तुनिष्ठ आधार होते हैं । यह मान्यता मूल्यों एवं मानदण्डों की सत्तामीमांसा, उनके स्वरूप एवं यथार्थ में उन के स्थान से संबंध रखती है । इन्हें मूल्य निर्धारण के लिए वस्तुनिष्ठ आधार देने तथा मूल्यों संबंधी विवादों में तर्क संगत समाधान के लिहाज से वास्तविक मान लिया जाता है । ऐसी नियामक शर्तें भी संभव हैं जिन्हें अच्छाई और औचित्य की प्रकृति को समझने के लिए अंतिम कसौटी के रूप में लिया जा सकता है ।

दार्शनिक परम्परा में नैतिक यथार्थवादियों तथा यथार्थवाद विरोधियों के बीच विवाद मुख्यत: नैतिक मूल्यों तथा मापदण्ड़ों के संबंध में रहा है । नैतिक यथार्थवाद की सत्तामीमांसकीय व्याख्या में यह माना गया है कि नैतिकता यथार्थ का एक विशिष्ठ पहलू है। नैतिकता हमारी जानकारी की सीमा से कहीं अधिक समृद्ध हो सकती है और उसे विषयिनिष्ठ पसंद, ईजाद या सामाजिक अनुबन्धों में परिणित नहीं किया जा सकता; जैसा कि यथार्थवाद विरोधियों का दावा है। किसी नैतिक वक्तव्य की सत्यता या असत्यता उसे सिद्ध कर पाने की हमारी सामर्थ्य पर निर्भर नहीं करती । नैतिक वक्तव्यों की सत्यता की शर्तें विषयिनिष्ठ भंगिमाओं से स्वतंत्र हैं । नैतिक दृष्टि से अच्छे और उचित का अर्थ नैतिक–कर्ता की अनुशंसा, इच्छा या प्रतिबद्धता का हवाला दिये बिना समझा जा सकता है ।

मूल्यों के वस्तुनिष्ठत्तावाद की मान्यता भी नैतिक यथार्थवाद से संबंद्ध है । मूल्यों के वस्तुनिष्ठ सिद्धांतों में यह दावा किया जाता है कि ''एक सार्थक जीवन कुछ चारित्रिक विशेषताओं में निहित है, कुछ विशेष क्षमताओं के विकास एवं प्रयोग में तथा दूसरों से और दुनिया से विशेष संबंध होने में निहित है, और इन चीजों का महत्व इन से प्राप्त होने वाले आनन्द या इन के वांछित वस्तुएं होने से स्वतंत्र है ।''

नैतिक यर्थाथवाद तथा मूल्यों की वस्तुनिष्ठतावाद में दो आधारभूत पूर्वमान्यतायें अंतरनिहित हैं :

(1) नैतिक सत्य ज्ञानमीमांसकीय स्वीकृति की शर्तो का अतिक्रमण करता है । किसी विशेष नैतिक वक्तव्य की सत्यता अथवा उसका मिथ्यात्व उसे प्रदर्शित करने की हमारी क्षमता पर आश्रित नहीं होता । चूंकि नैतिक सत्य किसी भी व्यक्तिगत विचार से कहीं अधिक जटिल होता है, इसलिए प्रचलित नैतिकता व वास्तविक नैतिकता के बीच एक तनाव हमेशा बना रहता है । यही तनाव शिक्षा के प्रति ऐसी दृष्टि के लिए तार्किक आग्रह को संभव बनाता है जो सीखने वाले अथवा समाज की नैतिक धारणाओं से सर्वथा भिन्न हो सकती है ।

समान्यत: यही तर्क मूल्यों एवं मापदंडों पर भी लागू होते हैं। क्या मूल्यवान है और समाज अथवा व्यक्ति किसे मूल्यवान मानता है, इसके बीच भी हमेशा एक तनाव बना रहता है । मूल्य संबंधी निर्णय मात्र व्यक्तिगत रुचि की अभिव्यक्ति नहीं होते, बल्कि उनमें औचित्य का दावा भी अन्तरनिहित होता है । शिक्षकों को अपने शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण जो मूल्यवान है उसके आधार पर करना चाहिये और शिक्षार्थी तथा समाज के मूल्यों को ध्यान में रखना चाहिये । इस तरह शिक्षा की नियामक अवधारणा शैक्षिक प्रक्रिया, शिक्षाक्रम तथा संस्थानों के विकास के लिए आधार उपलब्ध कराती है ।

(2) नैतिक सत्य स्वीकृति के लिए अभिप्रेरणा की शर्तों का अतिक्रमण करता है । नैतिक वक्तव्य की सत्यता इस पर निर्भर नहीं करती कि नैतिक–कर्ता किस की अनुशंसा करते हैं अथवा किसके लिए प्रतिबद्धता जताते हैं । शिक्षार्थी अथवा समाज जिसकी आकांक्षा करता है, वह अनिवार्यत: वांछनीय नहीं होता । इस पूर्व–शर्त के

बिना किसी ऐसी शिक्षा को जो अपने ग्रहण करने वाले को आकर्षित नहीं करती, उचित ठहराना कठिन है तथा समाज के अधिसंख्य वर्ग द्वारा पसंद किये जाने वाले शिक्षा के उद्देश्यों की आलोचना करना भी कठिन है ।

नैतिक सापेक्षतावाद से प्रभावित संस्कृति केन्द्रीय लोकतांत्रिक मूल्यों; यथा स्वतंत्रता, समानता, न्याय एवं सत्य; की निरपेक्ष वैधता को स्वीकार नहीं करती। आलोचनात्मक मापदंडों के अभाव में विवेकशील नागरिक के लिए शिक्षा नागरिकों की सोच को ज्ञान, न्याय तथा सामाजिक अनुशासन की पूर्व प्रचलित धारणाओं के पक्ष में मोड़ने के लिए अविवेकपूर्ण प्रयासों को अपनाने लगती है।

मूलभूत नैतिक मूल्यों के निर्धारण के लिए कंस्ट्रक्टिविस्ट समाधान अपर्याप्त रहते हैं । मेरी परिकल्पना यह है कि कंस्ट्रक्टिविस्ट प्रयास या तो अंतर्भूत रूप से नियामक (नैतिक) ढांचे को स्वीकार करते हैं या फिर सापेक्षतावाद में परिणित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए रॉल्स स्वतंत्र एवं समान नागरिकों में न्यायोचित सहमति के लिए कुछ शर्तों को समीचीन मानते हैं । पर इन शर्तों की वैधता सिद्ध नहीं कर सकते, जब तक कि सहमति से पूर्व ही अन्तर्निहित रूप से वैध मान लिये गये नैतिक मानदण्डों का हवाला न दें । रॉल्स की मूल मान्यता में निहित दृष्टि–कोण किसी अनुभववादी नागरिक का दृष्टिकोण नहीं है जो कि अपने राजनैतिक व्यवहार में बहुधा पक्षपातपूर्ण कारणों से प्रेरित रहता है । इस दृष्टिकोण का आकर्षण नैतिक दृष्टिकोण के साथ इसकी बाहरी समानता है । और बिना इस नैतिक आकर्षण के यह दृष्टिकोण एक अर्थहीन अमूर्त प्रयत्न मात्र रह जायेगा ।

हमारा नैतिक शब्द–भंडार तथा अवधारणाएं भी उन्हीं संस्कृतियों अथवा परंपराओं की देन होती है जिनके तहत हमारा समाजीकरण हुआ होता है और इस अर्थ में हमारी ज्ञानमीमांसात्मक स्थितियां सांस्कृतिक तौर पर सीमित हो सकती हैं, तब भी नैतिक ज्ञान संभव है क्योंकि हमारे अनुभव हमें यथार्थ के साथ सम्पर्क के प्रासंगिक सूत्र उपलब्ध कराते हैं, और तर्क–बुद्धि आधारित विमर्श अचूक तो नहीं पर विरोधी विचार के मूल्यांकन का सर्वमान्य तरीका तो है ही ।

इस तरह लोकतंत्र की उपयुक्त अवधारणा में विवेकशील नागरिक की अवधारणा अंतर्निहित है और विवेकशील नागरिक की अवधारणा में शिक्षा की नियामक अवधारणा अन्तर्निहित है । और ये तीनों नैतिक यथार्थवाद और मूल्यों के वस्तुनिष्ठवाद को पूर्वमान्यता के रूप में लेते हैं । इसके विरोध में टैरेन्ट एक धारणा रखती हैं कि मूल्य सत्य अथवा मिथ्या नहीं हो सकते । मेरा दावा है कि टैरेन्ट की मूल्यों की प्रकृति के संदर्भ में प्रस्तुत की गई इस अवधारणा के साथ विवेकशील नागरिक, शिक्षा और लोकतंत्र की अवधारणायें उस प्रकार के किसी काम में नहीं आ पायेंगी, जिस में टैरेन्ट इन्हें लेना चाहती हैं । सहमति के लिए तर्कपूर्ण आग्रह और प्रबुद्ध सहमति तभी संभव है जब किसे विवेकसम्मत कारण माना जाये, इसके लिए कोई मानदंड हों । किसी भी विवेकशील नागरिक के लिए सामाजिक विकल्पों के मूल्यांकन की कसौटी क्या हो ? किसी भी आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिए किस प्रकार की तर्कसंगत प्रक्रियाएं अपनाई जा सकती हैं ? यदि इनके लिए कोई वैध कसौटी नहीं है तो आलोचनात्मक निर्णय की समूची अवधारणा ही मनमानी हो जाती है ।

आलोचनात्मक चिंतन के लिए ज्ञानमीमांसकीय ढांचा

ज्ञानमीमांसकीय ढांचा आलोचनात्मक विचार की अवधारणा की पूर्व शर्त है, जिसके आधार पर सटीक कारण यह दावा कर पाते हैं कि वे कारण हैं । इस तरह की मीमांसा में (1) तर्कसंगत वैधता तथा सत्य के बीच भेद स्पष्ट होना चाहिए। चूंकि सत्य एक ज्ञानात्मक अवधारणा नहीं है इसलिए यह तर्कसंगत वैधता की सीमाओं पर आश्रित भी नहीं है । कुछ परिस्थितियों में एक व्यक्ति असत्य में तर्कसंगत आधार पर विश्वास कर सकता है या जो सत्य है उसमें बिना तर्क–संगत आधार के विश्वास कर सकता है । (2) चूंकि तर्कसंगत औचित्य के सिद्धांत सार्वभौमिक रूप में वैध हैं इसलिए तर्कसंगत कारणों की वैधता संस्कृति सापेक्ष नहीं होती। (3) तर्कसंगत औचित्य स्थापन किसी चीज को सच मानने के लिए प्रथमदृष्टया कारण उपलब्ध करा देते हैं,फिर चाहे सिद्धांततः उसके मिथ्या साबित होने की संभावना बनी रहे ।

आलोचनात्मक चिंतन इस तरह के ज्ञानमीमांसकीय ढांचे के बिना सुचारू रूप से नहीं किया जा सकता। वक्तव्यों की वैधता की जांच नहीं की जा सकती, यदि सत्य और तर्क–बुद्धि–संगतता की एक दूसरे से स्वतंत्र अवधारणाओं से निसृत मानदण्ड उपलब्ध नहीं हैं । नैतिक सत्य अवधारणात्मक रूप से उससे भिन्न है जिस पर समय विशेष में हम तार्किक औचित्य के आधार पर विश्वास कर सकते हैं । जब हम अपने से विरोधी विचार को झूठ या मिथ्या मान रहे होते हैं, तब ही हमें इस बात का भी अहसास होता है कि हम गलत भी हो सकते हैं । यह सीमित होने और गलत हो सकने की संभावना का भाव सांस्कृतिक और शैक्षिक अनेकत्व की मांग करता है । इस आशा में कि विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में समालोचनात्मक अंत:क्रिया

से मूल्यों की अधिक सटीक अवधारणा तक पहुंच पायेंगे । तर्क–बुद्धि–संगत ढांचे के अभाव में सामाजिक आलोचना ओर विवेचना निरर्थक ही रह जाती है ।

विभिन्न उत्तर–आधुनिकतावादी तथा निओप्रोग्रामिस्ट विचारधाराएं सत्य की ज्ञानमीमांसकेतर अवधारणा को चुनौती देती हैं। जैसे कि रोर्टी बहस के अपने आप में ही महत्वपूर्ण होने का पक्ष लेते हैं क्योंकि प्रतिद्विन्दि मतों के बीच सत्य के मूल्यांकन का कोई आधार नहीं होता। उनके मत से क्योंकि विवेक के द्वारा मौजूद विकल्पों का एक खाका मात्र तैयार किया जा सकता है लेकिन यह भी इनके बीच निर्णय की कोई कसौटी नहीं देता। रोर्टी का यह विचार उत्पीड़न–मुक्त समाज की स्थापना के प्रयास में अन्याय एवं वेदना का विरोध करने के लिए कोई ज्ञानमीमांसकीय आधार प्रदान नहीं करता ।

रोर्टी तर्क देते हैं कि अंधेरे के खिलाफ एकजुट हुए अन्य मानवों के प्रति हमारी निष्ठा महत्वपूर्ण है, न कि हमारी चीजों को सही कर देने की आशा । निसंदेह यह भावना राजनैतिक आत्मतुष्टि एवं अकर्मण्यता में अपनी पूर्णता प्राप्त करती है ।

यदि दलील की तर्कसंगति के मूल्यांकन की कोई कसौटी न हो तो राजनीतिक आलोचना की धार कमजोर पड़ने लगती है । यथास्थिति का पक्ष सिर्फ इस आधार पर लिया जा सकता है कि जो प्रचलित है उसका सम्मान करना चाहिये । इसको तर्क–बुद्धि के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती क्योंकि अन्य मतों में यह भी एक अन्य मत की प्रस्तुति है; और तर्क बुद्धि सम्मत तुलना के कोई मानदण्ड हैं नहीं । इसीलिए राजनीतिक व्यवहार किसी भी आलोचनात्मक विचार विमर्श की पकड़ से बाहर चला जाता है ।

विवेकशील नागरिक के आदर्श के बारे में सार्थक संवाद के लिए हमें यह मानना होगा कि केवल मूल्य निर्धारण के बारे में ही नहीं, मूल्यों के बारे में भी ज्ञान प्राप्त करना संभव है । यदि लोकतांत्रिक स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय में नैतिक यथार्थ के वस्तुगत आधार का अभाव है तो इन्हें समाज को संचालित करने वाले सिद्धांतों के रूप में स्थापित करना मनमानापन हो जाता है । ऐसे में अंतत: उन मूल्यों को इनके विरोधियों के सामने सिद्धांत रूप में स्थापित करने का भी कोई तार्किक आधार नहीं रह जाता ।

यह कहना कि कोई कर्म सही है या कि यह काम करना चाहिये, कहने वाले की पसंद या वरीयता की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है । इसमें औचित्य का दावा भी निहित है । इसमें यह भी संप्रेषित होता है कि निर्णय के पीछे कारण हैं और उन कारणों पर आगे भी विचार–विमर्श किया जा सकता है। इसमें अंतत: यह अभिव्यक्त होता है कि ये कारण वस्तुनिष्ठ जांच करने पर बाध्यकारी सिद्ध होंगे; यदि सभी संबंधित तथ्यों और हितों को ध्यान में रखकर यथासंभव निष्पक्ष निर्णय लिया जाये । दावा करने मात्र में ही निहित है कि यह केवल भावना की अभिव्यक्ति या केवल आदेश देना या केवल किसी विशेषज्ञ का उद्धरण देना मात्र नहीं है । दावा करना कम से कम सैद्धांतिक स्तर पर एक बेहतर विचार के प्रति वचनबद्ध हो जाना है । अर्थात उस अनुशंसित निर्णय के प्रति वचनबद्धता जिसके पीछे का तर्क हर वह व्यक्ति समझ सकता है जो परिस्थिति को समग्रता से देखने की जहमत उठाये, संबंधित हितों को निष्पक्ष और सहृदय दृष्टि से देखे और मसले से संबंधित व्यक्तियों के प्रति सम्मान रखता हो ।

लोकतंत्र की अवधारणा में यह निहित है कि लोग अपने दावों को दूसरों द्वारा आलोचनात्मक जांच के लिए प्रस्तुत करें और दूसरों के दावों की आलोचनात्मक जांच करें । अत: प्रत्येक नागरिक का शिक्षा द्वारा इस तरह विकास होना चाहिये कि वह अच्छे समाज पर सार्वजनिक विमर्श में भागीदारी कर सके । ऐसी शिक्षा में वस्तुनिष्ठ मूल्यों की स्वीकृति निहित होगी ही क्योंकि बिना गैर मनमाने मानदण्डों के ढांचे के कोई भी विवेकशील नागरिक दिये गए कारणों की वैधता को जांच कर उन पर न्यायोचित निर्णय नहीं ले सकता।

क्या एक अनेकत्ववादी समाज में तर्कसंगत नैतिक विमर्श संभव है ?

एलसडायर मैकिनटाइर का मानना है कि कोई बहुलतावादी समाज अवधारणात्मक विविधताओं से इतना अधिक विखंडित होता है कि उसमें किसी तार्किक विमर्श को स्थापित नहीं किया जा सकता । उनका दावा है कि उदार लोकतांत्रिक समाजों में सार्वजनिक विमर्श विकृत होकर ''असंगत टुकड़ों का बेमेल घालमेल'' बन गया है । ये अलग–अलग टुकड़े एक दूसरे से इस कदर बेमेल हैं कि आपसी समझ एक भ्रम मात्र रह गयी है । यहां कोई निरपेक्ष अदालत नहीं है जहां प्रतिस्पर्धी नैतिक दावों पर फैसले के लिए अपील की जा सके । क्योंकि विमर्श में भागीदार सभी लोगों को मान्य हो ऐसा कोई अवधारणात्मक ढांचा नहीं है । तो फिर समालोचनात्मक मूल्यांकन और तार्किक विमर्श कैसे संभव है ?

मैकिनटाइर यह नहीं कहते कि सिद्धांतत: नैतिक ज्ञान असंभव है । लेकिन वे यह मानते हैं कि तर्क आधारित सामाजिक विमर्श के लिए आदतों, प्रवृत्तियों तथा साझा मान्यताओं के स्तर पर सार्वजनिक हितों के लिए प्रतिबद्ध समुदाय अपेक्षित होता है । हमारे जीवन काल में हमारा समाज ऐसा नहीं बन पाएगा, इसलिए नैतिक तर्कसंगति की एक मात्र उम्मीद एक ऐसे स्थानीय समुदाय के निर्माण में बची रहती है जिसमें शिष्टाचार और बौद्धिक तथा नैतिक जीवन को बनाये रखा जा सके ।

नैतिक रूप से अच्छे के बारे में सहमति का पूर्ण अभाव निश्चय ही तार्किक नैतिक विमर्श को असंभव बना देता है । पर मैकिनटाइर का विश्लेषण इस बात से इनकार नहीं करता कि बहुलतावादी समाज अपेक्षाकृत कम लेकिन नैतिक अच्छे के बारे में कुछ महत्वपूर्ण सहमतियों के कारण आपस में जुड़ा हुआ भी रहता है ।

दूसरे शब्दों में हमारे समाज की कुछ विशेषताएं नैतिक अच्छाई के बारे में एक संयमित सहमति की नजर से देखने पर उचित ही लगेंगी । नैतिक अच्छाई के बारे में संयमित सहमति अंशत: इस समझ में निहित होती है कि शुभ की किसी धारणा विशेष पर पूर्ण सहमति के लिए बहुत अधिक जोर देना अंतत: बुरी चीज होगी, यह हम सभी के लिए जीवन को और दुरुह बना देगी ।

ऐसी स्थिति में निश्चित ही कई मूल बिन्दुओं पर असहमति बनी रहती है । ये असहमतियां नैतिक समस्याओं की जटिलता एवं विमर्श में भागीदार लोगों की मानवीय सीमाओं को अभिव्यक्त करती हैं । हांलांकि मूलभूत सहमतियां शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए खतरा बन सकती हैं यदि मानवीय सीमाओं के उचित मान के स्थान पर दूसरों पर कृपालुता की मानसिकता अपना ली जाये। पर मानवीय सीमाओं के मान के साथ असहमति की खुली अभिव्यक्ति समस्याओं के सरलीकृत और अनुचित हलों से बचा भी सकती है।

यद्यपि नैतिकता की विभिन्न भाषाएं और अवधारणात्मक प्रणालियां अपने विकास क्रम में किसी वक्त आपस में असम्मेय लग सकती हैं, यह जरूरी नहीं हैं कि वे सदा ही असम्मेय बनी रहेंगी। स्पर्धी परंपराएं व्याख्यात्मक रूप से एक–दूसरे से अस्पृश्य नहीं रहती, न ही उनकी भाषज्ञ एवं अवधारणात्मक प्रणालियां स्थिर रहती हैं । एक परंपरा अपनी प्रतिस्पर्धी परंपरा के विशिष्ट विचारों की अभिव्यक्ति के लिए नये भाषायी संदर्भ रचते हुए अपनी भाषायी और अवधारणात्मक प्रणालियों को समृद्ध कर सकती है । अनुवाद की समस्याओं को व्याख्यात्मक नवाचारों के द्वारा हल किया जा सकता है ।

हालांकि हमारा नैतिक शब्द–भंडार तथा अवधारणाएं भी उन्हीं संस्कृतियों अथवा परंपराओं की देन होती है जिनके तहत हमारा समाजीकरण हुआ होता है और इस अर्थ में हमारी ज्ञानमीमांसात्मक स्थितियां सांस्कृतिक तौर पर सीमित हो सकती हैं, तब भी नैतिक ज्ञान संभव है क्योंकि हमारे अनुभव हमें यथार्थ के साथ सम्पर्क के प्रासंगिक सूत्र उपलब्ध कराते हैं, और तर्क–बुद्धि आधारित विमर्श अचूक तो नहीं पर विरोधी विचार के मूल्यांकन का सर्वमान्य तरीका तो है ही । इसलिए, ऐसा प्रतीत होता है कि सीगल के मत से सहमत हुआ जा सकता है कि ''हालांकि हम अपनी पद्धतियों के परिप्रेक्ष्य में ही निर्णय लेते हैं लेकिन हमारे निर्णय तथा उनकी तर्कसंगति निरंतर उन पद्धतियों की सीमाओं का अतिक्रमण करती हैं।'' थॉमस मैकार्थी ने भी ठीक यही बात कही है :

''चाहे हमारे पास विवेक के मानदण्डों का ऐतिहासिक रूप से विकसित भाषाओं और परंपराओं से स्वतंत्र कोई विचार न हो फिर भी विवेक एक आदर्श तो देता ही है जिस के संदर्भ में हम विरासत में मिले मापदण्डों की विवेचना कर सकते हैं... दूसरे शब्दों में हम ऐतिहासिक संदर्भों में और संदिग्ध विश्वसनीयता के साथ सार्वभौम वैधता के दावे कर सकते हैं और करते भी हैं ।''

नैतिक दुविधाओं और शिक्षा के दिशा देने वाले मूल्यों संबंधी समस्याओं के तर्क–बुद्धि संगत हल ढूंढ़ने के लिए उचित कारण हैं। मानवीय कमजोरियों को देखते हुए एकल सांस्कृतिक परिस्थितियों को सांस्कृतिक अनेकत्व पर तरजीह देना संदिग्ध ही लगता है । यदि यह मानें कि नैतिकता उसके बारे में हमारे ज्ञान से कहीं अधिक व्यापक है, तो अनेक नैतिक शब्दावलियों और अवधारणात्मक प्रणालियों का होना नैतिकता की अधिक समग्र और सटीक समझ में सहायक हो सकता है; विभिन्न प्रणालियों की समालोचनात्मक जांच के माध्यम से ।

प्रत्येक सिखाने वाले को अपनी दृष्टि से मूल्यवान विचार को प्रोत्साहित करना चाहिए । लेकिन साथ ही उसे सीखने वाले के चीजों को अपनी तरह से देखने और विरोधी विचार को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता का भी सम्मान करना चाहिए । विरोधी विचार की बेहतरीन व्यंजना और उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन नैतिक सत्य के सटीक ढंग से और अधिक निकट पहुंचने में सहायक होते हैं । मूल्य व्यवस्था में मतभेद हमेशा विरोध के ही प्रतीक नहीं होते, हालांकि उनकी कुछ चीजें आरंभिक स्तर पर हमें बाहरी प्रतीत हो सकती हैं । मूल्यों के बारे में अलग–अलग विचार परस्पर अनुपूरक भी हो सकते हैं, और उनका आदान–प्रदान परस्पर समृद्धिकारी भी हो सकता है । लोकतंत्र नैतिक सत्य की खोज में सहायक सामाजिक वातावरण उपलब्ध कराता है क्योंकि इसमें विचारों तथा उनके आलोचनात्मक मूल्यांकन की खुली अभिव्यक्ति की इजाजत और उसे प्रोत्साहन दिया जाता है ।

निष्कर्ष: प्रासंगिक ज्ञान के लिए वस्तुनिष्ठ मूल्यों तथा सुसंगत कसौटी के बिना शिक्षा के औचित्य को स्थापित नहीं किया जा सकता । शिक्षा और इसके विकृत अवपीड़क रूपों के बीच भेद करने की कोई कसौटी नहीं रह जाती । विवेकशील नागरिक की अवधारणा अपनी प्रासंगिकता खो देती है । लोकतंत्र प्रक्रियाओं की लीक पीटना भर रह जाता है, जिसका महत्व केवल प्रतीकात्मक होता है । ◆